'परो ददातीति विमुंच शेमुषीम्'

'दृष्ट' और 'अदृष्ट' पुरुषार्थ के ही दो विभाग हैं। जितना हम इस जन्म मे उद्यम द्वारा साधते हैं, उसे 'दृष्ट-पुरुषार्थ' और जो जन्मान्तरीण प्राक्तन कर्मबन्ध से इस जन्म मे कृत-परिश्रम से व्यतिरिक्त फल देता है, उसे 'अदृष्ट-पुरुषार्थ' कहते है। कर्म करते हुए मनुष्य को, उसकी अज्ञात अवस्था में भी कुछ पुण्य-पाप वन्ध होता रहता है जो पक्व होने पर वृक्षलग्न फल के समान टूटकर झोली मे स्वय टपक पडता है। यद्यपि वह हमारे कृत पुण्यो अथवा पापो का ही परिणाम है तथापि हमारी जानकारी न होने से हम उसे भी 'अदृष्ट' मान लेते हैं। वैसे विचार कर देखा जाए तो अनन्तानुवन्धी कर्म के इस विशाल क्षेत्र में पुरुषार्थ की दुन्दुभी ही सर्वत्र वज रही है।

—विद्यानन्द मुनि

प्राप्ति स्थान
जैन नगर
फिरोजाबाद (यू पी)

मुद्रक :
जयपुर प्रिन्टर्स,

दैव और पुरुषार्थ

इस ससार मे भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले मनुष्य हैं। कुछ दैव को और कुछ पुरुषार्थ को मानते हैं। इनसे भिन्न कुछ लोग दैव और पुरुषार्थ दोनो को स्वीकार करते है। इनमे भी कतिपय व्यक्ति ऐसे है जो पुरुषार्थ को दैव का उत्पादक मानते हुए कहते है 'विना पुरुषकारेण न दैव प्रतिपद्यते' पुरुषार्थ के विना दैव को प्राप्त नही किया जा सकता। वैदिक सूक्त 'नाश्रान्तस्य सख्याय देवा' का अभिप्राय है कि जो थककर चूर नही हो जाता देव उसकी सहायता नही करते। नीतिशास्त्र विशारदो का मत है–

'उत्साह पौरुष धैर्यं बुद्धि शक्ति पराक्रम।
षडेते यत्र वर्तन्ते तत्र दैव. सहायक ॥'

अर्थात् जिस व्यक्ति मे उत्साह, पुरुषार्थ, धैर्य, बुद्धि, शक्ति और पराक्रम ये छह बाते हो वही भाग्य अथवा दैव सहायता करता है। बहुत लोग कहते हैं कि 'उद्योगिन पुरुषसिहमुपैति लक्ष्मी· दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति' अर्थात् 'दैव दैव आलसी पुकारा' भाग्य-भाग्य की रट, तो आलसी लगाया करते है। अत 'दैव निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या' दैव को ठोकर मारकर आत्मशक्ति अर्थात् पुरुषार्थ से उद्योग करो। इससे विरुद्ध मत रखने वाले कहते हैं—

'शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडन
गजभुजगमयोरपि वन्धनम्।
मतिमता च विलोक्य दरिद्रता
विधिरहो! वलवानिति मे मति ॥'

'अहो! सूर्य और चन्द्रमा को भी ग्रहण लग जाता है और मदोन्मत्त गजेन्द्रो को तथा भयानक विषधरों को भी लोग वश मे कर लेते है। वडे-वडे शास्त्रतत्ववेदी विद्वान् आमरण दरिद्रता मे घुटते रहकर कालकवलित हो जाते हैं। इन सवको देखकर निश्चय होता है कि विधि अर्थात् भाग्य ही वलवान् है।'

इस प्रकार कितने उद्योग के गीत गाते हैं, कितने एक भाग्य की विरुदावली वखानते हैं और कुछ दैव और पुरुपार्थ दोनो के भक्त रहकर कार्यो की सफलता का मुकुट पुरुपार्थ के शिर पर वाँधते हैं तो असफलताओ की घण्टी दैव के गले मे लटका देते है। इन दैव और पुरुपार्थवादियो अथवा उभयवादियो के समूह ससार मे सर्वत्र पाये जाते हैं। कुछ अपनी असफलताओ से त्रस्त होकर दैव की शरण मे चले जाते हैं और कुछ अपने पुरुषार्थ के सफल परिणामो को देखकर उद्योग के प्रशसक वन जाते है। भाग्य और उद्योग के इन समन्वित और विरोधी दृष्टिकोणो को जानने के लिए हमे इनके मूलको जानना आवश्यक है।

'भाग्य' शब्द के पर्याय शब्दो को लिखते हुए कोषकारो ने इसे दैव, भागधेय, नियति, विधि और भाग्य शब्दो से सवोधित किया है। दैव शब्द 'दिव्' धातु से निष्पन्न होता है। यह धातु अनेकार्थी है। क्रीडा, विजिगीषा, द्युति, मोद, मद, शोभा, कान्ति और गति इत्यादि 'दिव्' धातु के अर्थ हैं। अत पुरुषार्थ के विना सिद्ध हुए कार्यो की सफलता मे यदि 'दैव' का हाथ समझा जाए तो कहना होगा कि उद्यम के विना सम्पन्न हुए इस कार्य मे दैव की क्रीड़ा है, विजिगीषा है कि दैव पुरुषार्थ को जीतना चाहता है, आनन्द की अनुभूति है और भाग्य के परिणाम गतिशील हैं। कठोर श्रम से कार्य की सफलता प्राप्त करनेवाला उसे दैव अर्थात् 'क्रीडा' (खेल-खेल मे ही कार्य सम्पन्न हो गया) ऐसा नही कहता। दैव का एक नाम 'अदृष्ट' भी है। अदृष्ट का अर्थ है जिसे देखा नही।

हम चेतनावस्था मे जितने कार्य करते है, उन्हे देखते है फिर यह 'अदृष्ट' कौन ! इसी के उत्तर मे दैव और पुरुपार्थ का समन्वय निहित है। हम इस जन्म मे जो शुभाशुभ कर्म करते है उनमे से कुछ का फल भोग लेते है और कुछ अभुक्त रह जाते है। वे अभुक्त कर्म ही जन्मान्तर में प्रकट होते है। क्योकि इस जन्म मे हमने उनको नही देखा अतएव वे अदृष्ट कर्म कहे जाते है। आयुर्वेदशास्त्र मे पीठ मे उठने वाले व्रण को (फोड़े को) अदृष्ट (अदीठ) कहते हैं। वह पीठ मे उठने से आँखो द्वारा देखा नही जाता अत. अदीठ कहाजाता है। ये कर्म भी इस जन्म मे चर्म-चक्षुओ से देखे नही गये अत. 'अदृष्ट' कहे जाते हैं। अदृष्ट को पूर्व जन्म मे उपार्जित शुभाशुभ कर्म मान लेने पर इन्हे भी परभव के 'पुरुषार्थ' ही मान लेना आवश्यक है। केवल इस जन्म और परजन्म के भेदजन्य होने से इनमे नामभेद परिकल्पित किया गया है।

'पुरुपार्थ' पुरुष का श्रम है, उपार्जित सम्पत्ति है। जो पुरुषार्थ के मार्ग पर प्रवृत्त रहता है वह दु खी नही होता। 'पुरुषार्थी नाव-सीदति' यह नीतिकारो का मत है। पुरुषोचित कार्यों को करते हुए ही सौ वर्ष जीवित रहने का सकल्प करने वालो ने यहाँ वहुत काम किये हैं। दैव को 'अदृष्ट' मानकर उस पर निर्भर नही रहना चाहिए। जिसे आँखे मिली है वह अपने 'दृष्ट' पर भरोसा करे, अदृष्ट के द्वारे याचना करने क्यो जाए ? यदि जन्मान्तर का उपार्जित है, प्राप्तव्य है तो वह अवश्य अपने समय पर फलदायी होगा और यदि जन्मात्तर की 'हुण्डी' मे जमा का अक वरावर है तो उसके आश्रय बैठे रहने का फल तो स्वय अपने विनाश का आवाहन करने के समान है। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि जन्मान्तर का 'अदृष्ट' पुण्य परिणामी (अनुकूल) भी हो सकता है और अशुभ करने वाला भी। अत

अशुभ से बचने के लिए भी निरन्तर पुण्यमय उद्योग करने में मनुष्य को संलग्न रहना चाहिए। सूर्य अपना कार्य करते २ डूब जाता है, चन्द्रमा अपनी कलाएँ बाँटते-बाँटते नि शेष हो जाता है, वृक्ष अकुरित होकर शनै शनै अपनी जडो को पाताल तक ले जाते है और आँधियो के प्रचण्ड वेग मे खडे रहने का सामर्थ्य पा लेते है। भाग्य की वाट जोहने वाले को अपनी मजिल तय करने मे वडा श्रम होता है। वह एक एक कदम चलता हुआ अगले पदविन्यास पर किसी आकस्मिक सहायता की इच्छा करता रहता है। फलत उसके पाँव किसी भी क्षण प्राप्त होने वाली दैवी सहायता की सम्भावना मे भारी रहते हैं और श्रम करते हुए भी श्रम का सच्चा आनन्द उसे नही मिलता।

ससार मे जो नानात्व दिखाई देता है वह पूर्व जन्म के उपार्जित श्रम और इस जन्म के उद्यम का फल है। अन्यथा एक ही श्रेणी मे पढते हुए वालक योग्यता मे भिन्न २ कैसे हो सकते है ? एक ही समय मे दो व्यक्तियो द्वारा आरम्भ किये जाने वाले कार्यो मे परिणामभेद कैसे आ सकता है ? भाग्य की (पूर्वोपार्जित सम्पत्ति की) इसी विशेषता पर लुब्ध होकर किसी ने कहा—'भाग्यवन्त प्रसूयेथा न शूर न च पण्डितम्' स्त्री को भाग्यवान् वच्चो को ही जन्म देना चाहिए शूरवीर अथवा पण्डित उत्पन्न हुआ तो क्या लाभ ! किन्तु भाग्यवान को उत्पन्न करना अपनी इच्छा के अधिकार मे नही है। इसलिए इस ससार मे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को चतुर्विध पुरुषार्थ ही माना है। धर्म करना हो तो पुरुषार्थ करो, अर्थ कमाना हो तो पुरुषार्थ करो, ससार के काम भोगो की पर्याप्ति लाभ करनी हो तो उसके निमित्त पुरुषार्थ करो। किं वहुना, मोक्ष पाना हो तो उसके लिए भी सर्वोच्च पुरुषार्थ करो। भाग्य ने अभी तक किसी को मोक्ष द्वार तक नही पहुँचाया। अत पुरुषार्थ करना सिद्धियो को आमन्त्रण

गूंज है। श्रम का उत्तरवाक्य है। श्रम से टपकने वाले स्वेद की धारा मे गुलाब के मकरन्द की सौरभ उठती है। आत्मा के अनन्त-वीर्य को पुरुषार्थ मे नियोजित करने वाला सच्चा मेहनती है।

दैव की उत्पत्ति के इस रहस्य को जो जान लेता है वह अन्ध-भाग्यवादियो के समान अकर्मण्य होकर नही बैठता। क्योकि, अपने दैव-स्वामित्व को वह पहचान लेता है। अत भाग्य उसका स्वामी नही, वह भाग्य का विधायक होता है।

ससार मे भाग्यवादियो और पुरुषार्थियो के दो पृथक् शिविर हैं। दैव शिविर के लोग प्रतिदिन उठकर भाग्य की अयाचित कृपाओ की याचना करते है और पुरुषार्थी खेमे का व्यक्ति स्वय सफलताओ को ढूंढकर खीच लाता है। दैववादी के विचारो को निश्चय-मित्र नही मिलता और पुरुषार्थी से मित्रता करने के लिए निश्चय स्वय चला आता है। एक (भाग्यवादी) अन्धकार में अपना भविष्य टटोलता है और दूसरा (उद्यमी) अपने बाहुबल की मशाल जलाकर निर्धारित योजनाओ के मार्ग पर चल पडता है। जीवात्मा मे श्रम और योग्यता की शक्ति स्वाभाविक है। चन्द्रमा को शीतल होने के लिए हिमालय की शिलाओ पर नही उतरना पडता और जन्म के सद्य. उपरान्त माँ का स्तन्य ढूँढने वाले को पुरुपार्थमार्ग की पगडडियो का निर्देशन करने की आव-श्यकता नही होती। 'बया' नामक पक्षी का नीड (घोसला) देखकर विस्मय होता है। मकडी अपनी 'लार' (लालास्राव) से जो जाला बुनती है ,उसके सूत्र कितने बारीक और अभग्न होते हैं। 'कगारू' के बालक भयजनक परिस्थिति का आभास पाते ही माँ के उदर की औपरिष्टक खोल मे छिप जाते है। समुद्र मे तूफान उठने की पूर्वसूचना मिलते ही मछलियाँ उसके अतल तल में बैठ जाती है। प्रात.काल की वेला मे कुक्कुट अपने आप 'बाँग' लगाने लगता है। इन सबको किसने शिक्षित किया। यह उद्यम

की प्रवृत्ति, प्राप्य की तलाश, तन्तुवाय की कुशलता प्राणियो के स्वभाव मे स्वत विद्यमान है। मछली को यदि तैरने की शिक्षा देना आवश्यक नही तो मनुष्य को अथवा कहना चाहिए प्राणि-मात्र को उसके उद्यम का मार्ग बताने की आवश्यकता नही। पुरुपार्थ के मार्ग प्रकृति से प्राणियो के लिए जाने पहचाने है।

मनुष्य को छोडकर शेष प्राणियो मे केवल पुरुषार्थ की अथक लगन देखी जाती है। चीटियाँ निरन्तर अपने बिलो मे से मिट्टी के लघु-लघु कण उठाकर बाहर फेंकती रहती हैं। वल्मीक-कीट बार २ अपने वल्मीको को उठाता रहता है। महापराक्रमी वनराज भी अपनी क्षुधा शान्ति के लिए प्रकृतिदत्त पुरुपार्थ करता है। परन्तु मनुष्य कदाचित् क्वचित् कथचित् फलनेवाले 'नियति-वाद' को देखकर अपनी अकर्मण्यता से दैवाश्रयी होने की अभिलाषा करने लगता है। यहाँ पुरुषार्थ और सफलता मे 'कार्य-कारण' भाव है। सफलतारूपी कार्य पुरुपार्थ की कारणता चाहता है। पुरुपार्थ पात्र है और सफलता उसमें रखा जाने वाला पदार्थ। 'पात्रत्वे क्रियता यत्न पात्रमायान्ति सम्पद' मनुष्य को पात्रता के लिए प्रयत्न करना चाहिए, क्योकि पात्र में ही सम्पदाएँ आती हैं। सफलतारूपी सम्पत्ति अर्जित करने के लिए पुरुषार्थ रूपी पात्र की पात्रता अपेक्षित है। 'आप्तमीमासा' मे आचार्य समन्तभद्र लिखते है—

'दैवादेवार्थसिद्धिश्चेद् दैव पौरुषत. कथम्।
दैवतश्चेदनिर्मोक्ष पौरुष निष्फल भवेत् ॥८८'

यदि दैव से ही कार्यसिद्धि होती हो तो फिर पुरुषार्थ की क्या आवश्यकता है और दैव से ही यदि मोक्षप्रतिबन्ध हुआ करे तो मुक्ति के लिए क्रियमाण पुरुषार्थ निष्फल हो जाएगा। और यदि—

'पौरुपादेव सिद्धिश्चेत् पौरुप दैवत कथम्।
पौरुपाच्चेदमोघ स्यात् सर्वप्राणिपु पौरुपम् ॥'

पुरुपार्थ मात्र से कार्यसिद्धि मान ली जाए तो पौरुप को अव्यर्थ मानना होगा और वैसी स्थिति मे जो भी पुरुषार्थ करेगा उसे सफलता मिलनी चाहिए किन्तु देखने मे आता है कि समान पुरुषार्थ करनेवालो को भी तारतम्य से भिन्न फलावाप्ति होती है। अत यह मानना चाहिए कि पुरुपार्थ और दैव दोनो ही कार्यो की सफलता मे कारण हैं। दैव शुभाशुभ कर्मों से वनता है। वही पुरुपार्थसिद्धि में प्रतिवन्धक अथवा सहयोगी होकर सफलता उत असफलता प्रदान करता है। जो पुरुष सदैव शुभकर्म का वन्ध करता है उसे पुरुषार्थ करने पर सद्य सफलता मिलती है और जो पापकर्म के बन्ध अधिक करता है वह अधिक पुरुषार्थ करने पर भी उसके अनुकूल भूरिफलो को प्राप्त नही कर पाता। ऐसे पुण्यचारित्र्य और पापकर्माओ के परिणाम पुरुषार्थ करने पर भी दैव के नियत्रण में रहते है। जैन परिभाषा मे 'श्रमण' शव्द का अर्थ श्रम की प्रतिष्ठा करने वाले के लिए प्रयुक्त हुआ है। जो साधु है, वे ही सच्चे 'श्रमण' हैं। अपने चारित्रश्रम से उत्तम-कोटि का पुरुषार्थ करते हुए वे मोक्ष साधना करते हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं। इनमे सभी पुरुषार्थ धर्म को मूल मानकर प्रवृत्त होते हैं। अर्थ का उपार्जन धर्ममूलक होना चाहिए, काम का सेवन धर्मानुकूल होना आवश्यक है। यदि काम और अर्थ के लिए धर्मसम्वन्ध अपेक्षित नही रहेगा तो काम उच्छृखल होकर प्रजाओ में व्यभिचार उत्पन्न करेगा और अर्थ का सम्वन्ध धर्म से रहित हो जाएगा तो अर्थसग्रह करने वाले येन केन उपायेन मासविक्रय से, गोवध से, मिथ्याचार से, पाप-कपट-चौर्य से पुष्कल अर्थार्जन करने लगेंगे और वृत्ति की पवित्रता समाप्त हो जाएगी। जयपुर के 'राजकीय सस्कृत कॉलेज' के एक सस्कृत शिक्षक के विषय मे सुनने मे आया है कि उनकी कक्षा का निरीक्षण करने के लिए निरीक्षक महोदय पहुँचे तो छात्रवर्ग

पढने के 'मूड' मे नही था और इधर-उधर की बातें कर रहा था। निरीक्षकजी ने पडितजी से इसकी शिकायत की तो पडितजी बोले इन्हे इस वर्ष का पाठ्यक्रम पढा दिया गया है और आप पूछ देखें कितना तैयार है ? पूछने पर सभी छात्रो ने अत्यन्त सन्तोषजनक उत्तर दिये और प्रसन्न होकर निरीक्षक ने उन पंडितजी की तरक्की (वेतनवृद्धि) के लिए शिक्षा विभाग को अपनी सिफारिश की। जब यह सवाद उन पडितजी को मिला तो वे शिक्षाविभाग मे जाकर अधिकारी से प्रार्थना करने लगे कि उनका मासिक वेतन न बढाया जाए। क्योकि 'विद्या को बेचकर जो पाप मैं कर रहा हूँ उसमे वृद्धि करना नही चाहता।' उन्होंने अधिकारी को 'राम-दुहाई' शब्दो मे शपथ दिलाते हुए निषेध कर दिया। यहाँ अर्थोपार्जन मे धर्म का नियन्त्रण ही कारण है। आज धर्म का सम्बन्ध पूजा-पाठ से और देव-गुरु-दर्शन मात्र से लगाने वाले अर्थव्यवसाय में उसे सम्मिलित नही करते। परिणामस्वरूप उनके व्यवसाय भ्रष्टाचार के अड्डे बन गये हैं और कामभोगो मे भी धर्म को साझीदार नही करते अत. उनके व्यभिचार की प्रवृत्तियाँ नित्य ही अशान्त रहती है। 'धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते' अर्थात् धर्म से ही अर्थ और कामनाओ का सेवन करना विहित है ऐसे धर्म को ही क्यो नही पालन करते। महर्षियो के ये वचन सदा स्मरणीय हैं। धर्म ही प्रथम पुरुषार्थ है। धर्माचरण से ही धर्म का उपार्जन करना चाहिए। "अग्निना अग्नि. समिध्यते' 'दीपकेन दीपक: प्रज्वाल्यते" अग्नि से अग्नि जलाई जाती है और दीपक से दीपक जलाया जाता है। धर्म से ही धर्मचिन्तन करना उचित है और धर्म से दूसरे पुरुषार्थो को भी धर्म द्वारा ही साधना चाहिए। मोक्ष रूप परम पुरुषार्थ को धार्मिक उत्तम श्रम करते हुए 'श्रमण' मुनि साधते हैं। इसीसे उन्हे मोक्ष प्राप्ति होती है। अत पुरुषार्थ के मूल मे धर्म की ज्वलन्त सत्ता सन्निविष्ट है। बिना धर्म

से कोई पुरुषार्थ नही। दैव और पुरुषार्थ धर्म के ही अग हैं। मनुष्य को आत्मधर्म का पालन करते हुए सतत् परिश्रम में लगा रहना चाहिए और यदि परिश्रम के साथ-साथ दैव भी फलता है तो उसे भी परिश्रम का अतिरिक्त पुरस्कार मानकर स्वीकार करना चाहिए। दैव की उपासना अकर्मण्य होकर नही, पुरुषार्थ-परायण होकर करने का स्वभाव होना चाहिए। अपने परिणाम का सफल भाग पुरुषार्थ को और असफल भाग दैव को देकर पुन शेष के साफल्य के लिए प्रयत्नसंकल्पी रहना चाहिए। जाप्य करते हुए को पातक नही लगते और पुरुषार्थ करते हुए को निराशा का मुख नही देखना पडता। अनेकान्त दृष्टि मे दैव और पुरुषार्थ को परस्पर एक-दूसरे का पूरक मानने मे विरोधी भावों का परिहार है। पुरुषार्थ पुरुष का श्रम है और दैव उसमें सुगन्धि है। मनुष्य को अपने श्रम की प्रतिष्ठा करने मे नही चूकना चाहिए। यदि दैव की सुगन्धि उसमें आकर मिलती है तो बहुत अच्छा और न भी मिले तो पुरुषार्थ का परिणाम अपने आप मे सुगन्धि से अधिक मूल्यवान है।

दो पात्र समानरूप से आधे २ भरे हुए है। उनमें एक भाग्य-वादी के हाथ में है और दूसरा पुरुषार्थपरायण के। भाग्यवादी अपने भाग्य को कोसते हुए कहता है कि मेरा आधा पात्र खाली है किन्तु पुरुषार्थी कहता है मेरा आधा पात्र भरा हुआ है। एक निराशवाद से अभिभूत है और दूसरा आशान्वित है। आशाधर उसकी पूर्णता की ओर लक्ष्य करता है तथा निराश हुआ दैव-वादी आधे रिक्त होने को रोता है। इस ससार मे जन्म के साथ ही पिता, पुत्र, परिवार, सुख, दुख, भोग, क्लेश आदि कर्मानुबन्ध से उदय मे आते है। अनन्त मनुष्यो के अनन्त विध कर्म फलोदय को देखकर यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। इस कार्मण शरीर के परिणामो का भोक्ता मनुष्य यदि दैववाद के चक्कर

मे पड जाता है तो द्वार पर आये हुए पुरुषार्थ के अवसर लौट जाते है। क्योकि मनुष्य अपने भाग्य का स्वय विधाता है। एक बूढा व्यक्ति लकडी के सहारे चलता है। उसके चलने मे लकडी उदासीन है। तथापि यदि वह लकड़ी को ही अपने चलने मे मुख्य मान ले तो क्या यह उचित है। या यदि लकडी स्वय गति दे सकती तो मृतक को भी उसका अवलम्बन मिल जाता। विना पुरुषार्थ के भाग्यो का आश्रय लेना भी इसी प्रकार है। वृक्ष के नीचे दूसरा वृक्ष नही पनपता और भाग्य के सहारे व्यक्ति का पुरुषार्थ उदग्र नही होता। यदि भाग्य ने किसी वृक्ष को किसी वृक्ष की छाया मे अंकुरित किया है तो पुरुषार्थ से उसे अलग होकर ही अपनी शाखाओ और स्कन्ध का विकास करना चाहिए। अन्यथा यावजीवन वह पूर्व समुत्पन्न वृक्ष पश्चात् उत्पन्न वृक्ष के ऊँचे उठने मे बाधाएँ ही उपस्थित करेगा। अपना पृथक् स्वतन्त्र व्यक्तित्व निर्माण करने वालो ने भाग्य की रेखा को वज्र सकल्पो से मिटा दिया है। उनके उत्थान का सूर्य उनके पुरुपार्थ की मुठ्ठी मे है। श्री अमितगति सूरि ने अपनी 'द्वात्रिशतिका' मे कहा है—

'स्वय कृत कर्म यदात्मना पुरा
फल तदीय लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्त यदि लभ्यते स्फुट
स्वय कृत कर्म निरर्थकं तदा ॥३०॥'

जो कर्म अपने द्वारा विहित है उसी के शुभ अथवा अशुभ कर्मपरिणाम को मनुष्य प्राप्त करता है। यदि यह न मान कर ऐसा माना जाए कि किसी पराये से दिये हुए विपाक को मर्त्य प्राप्त करता है तो स्वयकृत कर्म निरर्थक हो जाएँगे। कर्मका वन्ध अवश्य होता है यही पुरुषार्थ के परिणाम की निश्चय सूचना है। कर्म का वन्ध कदाचित् होता है और कदाचित् स्वेच्छा से न होता है यह सामान्य नियम मानने पर तो पुरुपार्थ से फल-

परिणाम प्राप्ति मे सन्देह किया जा सकता है। अत मनुष्य के कर्म ही, उसका पुरुषार्थ ही उसे निधन या सधन, सम्पन्न या विपन्न वनाता है। श्री अमितगति सूरि ने क्या ही अच्छा श्लोक इस विपय मे लिखा है—

'निजार्जित्त कर्म विहाय देहिनो
न कोऽपि कस्यापि ददाति किंचन।
विचारयन्नेवमनन्यमानस.
परो ददातीति विमु च शेमुषीम्' ॥३१॥

अपने पुरुषार्थ से अतिरिक्त कोई किसी को नही देता है। ऐसा विचार करते हुए मनुष्य को 'दूसरा कोई देने वाला है' इस मिथ्या दृप्टि को छोड देना चाहिए।

'दैव' का सन्धिविच्छेद है 'द+एव'। अर्थात् जिसमे दयनीयता, दु ख, दैन्य और दे, दे (दीजिए, दीजिए) ऐसी ध्वनि निकले। 'दैव' वास्तव में विपन्नाक्षर कोष है और 'पुरुषार्थ' मे पु स्त्व की ध्वनि है। इसका आद्य अक्षर 'प' परिश्रम, प्रवृत्ति और परमात्मपद प्रतिप्ठा का वाचक है। 'प' परायण है, 'द' दयनीय है। 'प' से आगे यदि 'द' की प्रतिष्ठा की जाए तो 'प+द'='पद' ध्वनित होता है और उसका अर्थ प्रतिष्ठा, उत्कर्ष होता है अर्थात् पुरुषार्थ-मूलक दैव की परिकल्पना तो श्लाघ्य है किन्तु दैव को प्रमुख मानकर पुरुषार्थ को गौण करने से व्यक्ति का व्यक्तित्व बिना तपाये सुवर्ण के समान दैवकी खान मे पडा-पडा अपने शुभोदय की वेला की प्रतीक्षा ही करता रहता है। 'भाग्य' उदासीन शब्द है। उसके पूर्व मे 'सु' लगाने से 'सौभाग्य' और 'दुर्' लगाने से 'दुर्भाग्य' सूचित होता है। श्रमकी प्रतिष्ठा करने वाले के हिस्से मे 'सौभाग्य' शब्द आता है और नित्य नियतिदुर्गत तो 'दुर्' को ही पा सकता है। पुरुषार्थ निश्चित सफलता का पर्याय है और दैव सदिग्ध स्थितियो का निर्देशक है। बुद्धिमान् व्यक्ति

निश्चित फलदायी मार्ग को छोडकर सन्देह मे प्रवृत्त नही होता। अत पुरुष का उत्थान उसके पुरुषार्थ अथवा दैवमूलक कार्य-कलापो की पद्धति देखकर अनुमान किया जा सकता है। पुरुषार्थी के हाथो मे पद्म रेखाएँ अकुरित होती है और भाग्यवादी के चक्रवर्ती चिह्न सशय और प्रतीक्षा के वातावरण मे धमिल हो जाते हैं। एक निर्माता है और दूसरा नियतिनिर्मित का भोक्ता है। एक स्वोपजीवी है दूसरा परोपजीवी। एक आश्रयदाता है दूसरा आश्रयापेक्षी। मानव अपना निर्माता स्वय बने इसके लिए पुरुषार्थपरायणता पहली प्रतिज्ञा है। दैव के दुर्ग का ध्वस करके पुरुषार्थ के प्रासाद का निर्माण किया जाता है। 'अल्बाट्रास' नामक पक्षी महासमद्रो पर चार अहोरात्र (चार दिन, चार रात) एक गति से उडता है और बिना सोये, बिना थके या विश्राम लिये निरन्तर सत्रह सौ मील उडान भरता है। जो भाग्यवादी महान् कार्यों की विशालता से भीत होकर कहते है कि 'भुजाओ से समुद्र को किसने तरा है' उनके लिए 'अल्बाट्रास'[1] पुरुपार्थ का दूसरा नाम है, स्मरण रखना चाहिए। भाग्य के भरोसे जीनेवाला अकिंचित् कार्यों को भी 'असम्भव' कहता है और पुरुपार्थपरायण की शब्दावली मे आत्मपराजय ध्वनित करने वाला कोई शब्द नही है। एक नीतिकार कहता है—

'अगणवेद्री वसुधा कुल्या जलधि स्थली च पातालम्।
वल्मीकश्च सुमेरु कृतप्रतिज्ञस्य वीरस्य ॥'

जो कमर बाँधकर तत्पर हो जाता है उसके सामने पृथ्वी अपने विस्तार को सिकोड लेती है, समद्र क्षुद्रनदी प्रमाण बन जाते है, पाताल उठकर पृथ्वी के बराबर आ जाता है और सुमेरु

---

१ देखिए, 'स्वराज्य' साप्ताहिक, पूना के १ अक्तूबर, ६० के अक मे प्रकाशित लेख।

पर्वत मामूली मिट्टी के वल्मीक (ढूहर) के समान हो जाता है। 'आल्प्स' नही है, यह साहसिकों की भाषा है।

उलूक के भाग्य मे दिन मे भी अन्धकार है और 'जुगनू' (ज्योतिरिंगण, खद्योत) अन्धेरी रातो मे भी अपना तन जलाकर प्रकाश उत्पन्न कर लेते हैं। 'रहँट' के पात्र भरते और खाली होते रहते हैं और अनुद्यमी के मस्तिष्क मे एक विचार जाता और दूसरा आता रहता है। परन्तु उद्यमशील के विचार 'चाँच' के कुएँ मे डुबकी लगानेवाले कलश के समान जब ऊपर उठते हैं तो लबालब भरे होते हैं। उद्यम की रात मे देवता जागते हैं और भाग्य के दिन मे अकर्मण्य स्वप्न (दिवास्वप्न) देखते हैं। 'मोक्षमार्ग-प्रकाशक' में आचार्यकल्प पडित टोडरमलजी ने कहा है कि—'. .काललब्धि वा होनहार तो किछु वस्तु नाहि। जिस कालविषै कार्य बनै सोई काललब्धि और जो कार्य भया सोई होनहार।' अत. 'उपदेश तो शिक्षा मात्र है, फल जैसा पुरुषार्थ करै तैसा लागै।' शुभम्।